'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' ग्रन्थमें से आत्मिक सुख विषयक वचनामृत

आत्मक सुख

(आत्मिक आनंद के विषय में आपने कहा :) जब एक बार आनंद की घूँट पी ली...तब तो बार-बार वही घूँट पीने के लिए अपनी ओर आना ही पड़ेगा। दूसरी किसी जगह परिणति को रस ही नहीं आयेगा; बार-बार अपनी ओर आनेका ही लक्ष्य रहेगा, दूसरे सब रस उड़ जायेंगे। २१.

❖

प्रश्न : निर्विकल्प उपयोगमें कैसा आनंद आता है ?

उत्तर : निर्विकल्प उपयोगके सुखकी तो क्या बात कहें !! लेकिन समझानेके तौर-से जैसे गन्नेके (शेरड़ीके) रसकी घूँट पीते हैं, वैसे आनंदकी घूँट.... एकके बाद एक चलती ही रहती है; उसमेंसे निकलनेका भाव ही नहीं आता। ३३.

❖

आनंदके अनुभवमें तो रागसे भी भिन्न चैतन्य-गोला छुट्टा अकेला अनुभवमें आता है, उसके आनंदकी क्या बात करें !! अंदरसे निकलना ही गमे नहीं, बाहरमें आते ही भट्ठी-भट्ठी लगे। ९१.

❖

'मैं' ऐसी भूमि हूँ जहाँसे क्षण-क्षणमें नया-नया फल उत्पन्न होता ही रहता है। जैसे भूमिसे ऋतु-ऋतुके अनुसार अनेक फल उत्पन्न होते रहते हैं, वैसे 'मैं ऐसी भूमि हूँ' जहाँसे सुखका फल उत्पन्न होता ही रहता है। 'मैं' अमृतरससे भरा हुआ हूँ। 'मैं' तो ऐसी भूमि हूँ जिसे फलके लिए जलकी भी जरूरत नहीं रहती, क्योंकि 'मैं' स्वयं ही सुखरूप हूँ; दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षा ही नहीं। १८६.

❖

इधर (स्वरूपमें) दृष्टि आते ही सुखके स्रोतके स्रोत बहने लगेंगे। २७४.

❖

(निर्विकल्प दशामें) बिजलीके करंटकी माफिक अतीन्द्रिय सुख प्रदेश-प्रदेशमें व्यापक होकर प्रसर जाता है। ....झनझनाहट....! काल थोड़ा होनेपर भी क्या ? (काल थोड़ा होनेसे उसकी महत्ता कम नहीं। निर्विकल्प आत्माके अतीन्द्रिय आनंदकी अनुभवदशाका माहात्म्य अचिंत्य-महिमावंत है क्योंकि एक क्षणार्धमें अनंतभवका नाश हो जाता है।) ३०५.

❖

बिजलीका करंट लगते ही भय लगता है और उससे हटना चाहते हैं। लेकिन त्रिकाली स्वभावमें प्रवेश करते ही आनंदकी ऐसी सनसनाहट होती है कि उस आनंदसे क्षण मात्र भी हटना नहीं चाहते हैं। ३७१.

❖

विकल्प, दुःखरूप लगना – यह भी नास्ति है। अस्ति में तो 'मैं' सुख से भरपूर हूँ, सुख की खान हूँ।' ४१७.

❖

सहज सुख (अन्य) सभी का सहज ही निषेध करता है। ४४५.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत - २५४० : अंक-२०५ : वर्ष - १९ : अक्टूबर–२०१४

आसो सुद १२, शुक्रवार, ता.१३–१०–१९७८, बहिनश्री के वचनामृत–३१६ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन नं.–११८

अपनी महिमा ही अपनेको तारती है। बाहरी भक्ति–महिमासे नहीं परन्तु चैतन्यकी परिणति में चैतन्यकी निज महिमासे तरा जाता है। चैतन्यकी महिमावंतको भगवानकी सच्ची महिमा होती है। अथवा भगवानकी महिमा समझना वह निज चैतन्य–महिमाको समझनेमें निमित्त होता है।। ३१६।।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप (है), इसकी भीतर में महिमा हो तो आत्मा को तिरने का उपाय हाथ लगता है। है ? '**अपनी महिमा ही...**' अंदर में जो दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव आते हैं वह शुभराग है। इसकी महिमा आती है वह मिथ्यादृष्टि है। सूक्ष्म बात है, भाई ! अपना निजस्वरूप नित्यानंद प्रभु, सहजात्मस्वरूप जो ज्ञायकभाव इसकी महिमा आनेपर सम्यग्दर्शन होता है, तब तिरने का उपाय जीव के हाथ लगता है। आहा..हा..! ऐसी बात है।

'**बाहरी भक्ति–महिमा से नहीं...**' भगवान की भक्ति हो या पच्चखान लेना, विकल्प–राग हो, इसकी महिमा से आत्मा का धर्म नहीं होता। आहा..हा...! ऐसी बात है, प्रभु ! बहुत सूक्ष्म बात। आहा..हा...! क्यों ? कि आत्मा ज्ञायक स्वभाव से भरा (पदार्थ), वह दया, दान, व्रत, प्रतिक्रमण या भक्ति के विकल्प, वास्तव में तो इनसे मुक्त भिन्न है। समझ में आया ? चैतन्य ज्ञायकमूर्ति प्रभु, शुद्ध ज्ञानघन इससे पुण्य के परिणाम जो दया, दान, व्रत आदि विकल्प हैं, सो तो आत्मा के स्वभाव से भिन्न ही है, भिन्न ही है।

ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- भिन्न या विरुद्ध ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- भिन्न पडे हैं। भिन्न ही है। अपने स्वभाव में नहीं है। आहा..हा...! ऐसी सूक्ष्म बात, भाई ?

वैसे तो अनन्तबार मुनिव्रत धारण किये, पंचमहाव्रत लिये, अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन किया, सो तो सब राग की क्रिया है। आहा..हा...! ऐसी राग की क्रिया की महिमा के कारण अपने सम्यग्दर्शन स्वरूप की महिमा न आयी। आहा..हा...! है ? '**भक्ति-महिमा से...**' भगवान की भक्ति, तीर्थंकर त्रिलोकनाथ की प्रतिमा, मूर्ति या साक्षात् भगवान इनकी भक्ति भी राग है। आहा..हा...! इनकी '**महिमा से नहीं...**' उनकी महिमा से अपना सम्यग्दर्शनतरण उपाय प्रगट नहीं होगा। ऐसी बात है, प्रभु ! क्या करे ? जगत की मान्यता कहाँ पड़ी है और वस्तु कहाँ पड़ी है। आहा..हा...!

ज्ञायकस्वरूप चैतन्यदल, शुद्ध अतीन्द्रिय आनंद का कंद प्रभु ! इनकी महिमा न आकर, ये भक्ति आदि बाहर में परमात्मा की भक्ति, व्रत या उपवास का विकल्प जो कि राग है, इनकी महिमा से अपनी महिमा नहीं आती। आहा..हा...! ऐसी बात है। लोगों को दुष्कर लगे, क्या करे? 'मुनिव्रत धार अनन्त बैर ग्रैवेयक उपजायो, पर आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो' अनंत बार मुनिव्रत धारण किये, दिगम्बर हुआ, हजारों रानियों का त्याग किया, द्रव्यलिंग नग्न धारण किया, अट्ठाईश मूलगुण, महाव्रत आदि का पालन किया, परन्तु वह तो राग है। प्रभु ! प्रभु ! बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! ये राग की क्रिया इससे ज्ञायकस्वरूप भगवान भिन्न है। भिन्न ही पड़ा है। एकत्व नहीं है एकत्व माना है। आहा..हा...! समझ में आया ?

ज्ञायकस्वरूप भगवान प्रभु ! सच्चिदानंद सहजात्मस्वरूप ध्रुव चैतन्य, इसकी महिमा, इसका माहात्म्य, वह राग से भिन्न-अधिक भिन्न होकर अपनी महिमा में जाये तब उसको सम्यक्दर्शन होता है। आहा..हा...! ऐसी बात है। '**भक्ति-महिमा से नहीं...**' भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की साक्षात् समवसरण में भक्ति अनन्तबार की। समवसरण में मणिरत्न के थाल, कल्पवृक्ष के फूल, हीरों का थाल, मणिरत्न के दीये (से पूजा की) समवसरण में महाविदेहक्षेत्र में अनन्तबार जन्म लिया है। और वहाँ समवसरण में अनन्तबार गया है और अनन्तबार वहाँ भगवान की भक्ति से आरती भी की है। जो कि शुभराग है। जबतक इसकी महिमा आती है तबतक मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा...! ऐसी दुष्कर बातें, भाई !

अंतर भगवान शुभराग के, विकल्प के छिलकों से भगवान भिन्न है अंदर में। अरे ! कैसे माने ? अंतर्मुख दृष्टि करने पर, बाह्य दृष्टि विकल्पादि राग की दृष्टि छोड़कर आहा..हा...! जो स्वयं अपनेमें है नहीं, इसकी दृष्टि और रुचि छोड़कर अंतर में ज्ञायक त्रिकाली आनंद का नाथ, प्रभु सहजात्मस्वरूप, उसमें दृष्टि लगाने से, इसकी महिमा करने से सम्यग्दर्शन होता है। आहा..हा...! ऐसा है। जगत से बिलकुल उलटा, भाई !

'**परन्तु चैतन्य की परिणति में चैतन्य की जिन महिमा से तरा जाता है।**' आहा..हा...! भगवान चैतन्यस्वरूप चैतन्यलोक आनंद आदि अनंत गुणों से भरा, प्रभु ! वह चैतन्य की परिणति, उस भक्ति आदि जो परिणति है सो तो राग की परिणति है। आहा..हा...! ऐसा दुष्कर है, भाई ! क्योंकि बाह्यलक्षी वृत्ति है। भक्ति आदि, व्रत आदि, तप आदि सब बहिर्लक्षी वृत्ति है। भले ही शुभराग हो परन्तु वह बहिर्लक्षी वृत्ति है। आहा..हा...! इसमें

चैतन्य की परिणति का अभाव है। आहा..हा...!

ज्ञायक भगवान चैतन्य ज्ञानस्वरूप प्रभु ! इसकी **'चैतन्य की परिणति में चैतन्य की निजमहिमा से तरा जाता है।'** आहा..हा...! भारे मुश्किल कार्य ! व्यवहार भक्ति आदि का भाव तो राग है। सो तो जीवने अनन्त बार किये हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। 'आतमज्ञान बिन लेश सुख न पाया' ये महाव्रत आदि लिया, व्रतादि नियम लिये, सो सब राग है, दुःख है। आहा..हा...! राग से भिन्न भगवान चैतन्यस्वरूप उसका ज्ञान नहीं किया तो आनंद नहीं आया, दुःख हुआ। आहा..हा...! ऐसा स्वरूप है। लोगों को नहीं सुहाता, क्या करे ? आहा..! मार्ग तो ऐसा है। तीन लोक के नाथ, जिनेश्वरदेव, परमात्मा इनकी दिव्यध्वनि में ऐसा आया है। समझ में आया ?

चैतन्य ज्ञायकस्वरूप भगवान, इसकी परिणति। परिणति नाम इसकी निर्मलदशा। भक्ति आदि, व्रतादि का भाव तो मलिन दशा है। आहा..हा...! इस मलिनदशा की आत्मा को महिमा आती है, तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा...! अपना चैतन्य, इसकी भक्ति आदि, रागादि, विकल्पादि से भिन्न प्रभु भीतर में है। क्योंकि भक्ति आदि परिणाम पुण्यतत्त्व है और भगवान आत्मा तो पुण्यतत्त्व से ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। आहा..हा...! इसका अर्थ यों हुआ कि चैतन्यलोक भगवान है वह राग से मुक्त ही है। क्योंकि परचीज़ है न। यह बात कैसे माने ? आहा..हा...! यह राग का विकल्प जो है, बाह्यव्रत के, पंचमहाव्रत के, पडिमा का राग, सो तो सारे विकारभाव हैं। वे सब अपने स्वरूप से भिन्न हैं। इसकी परिणति तो मिथ्यात्व, इसे मानने से धर्म मानना सो तो मिथ्यात्व की परिणति है। परिणति नाम मिथ्यात्व की दशा है। आहा..हा...!

'चैतन्य की परिणति में...' ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि होनेपर, जो ज्ञायक की शुद्ध चैतन्यदशा की दशा होती है, उस चैतन्य की निज महिमा से ही छूटकारा है। वही संसार तिरने का उपाय है। बहुत मुश्किल लगे किंतु क्या करे ? आहा..हा...! अशुभभाव भी अनंतबार किये हैं और ऐसे व्रत, तप, भक्ति, उपवास, छः-छः महीने के उपवास, भगवान की आरती, करोड़ों के दान और करोड़ों मंदिर बनवाये, ऐसे शुभभाव अनंतबार किये हैं, भाई ! यह चीज़ कोई नई नहीं। आहा..हा...! ऐसे राग की जिसको महिमा आती है उसको निर्विकार चैतन्य भगवान की महिमा नहीं है और जिसको चैतन्य निर्विकार की महिमा है, उसको राग की महिमा नहीं आती है कि मैंने ऐसे शुभभाव किया... ऐसा किया... ऐसी महिमा धर्मी को नहीं आती। आहा..हा...! ऐसा स्वरूप है। दुष्कर लगे।

'चैतन्य की महिमावंत को भगवान की सच्ची महिमा होती है।' जिन्हें भगवान ज्ञायकस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन, ध्रुव, उसकी जिसे महिमा है, उसे भगवान की सच्ची महिमा होती है। आहा..हा...! वरना तो भगवान का बाह्य देदार ऐसा है, अतिशय है, भगवान बोलते नहीं, दिव्य ध्वनि छूटती है - सो तो परवस्तु है। अंतर में भगवान ज्ञायकस्वरूप, इसकी महिमा से चैतन्य परिणति हुई, उसको ही भगवान की यथार्थ महिमा आती है, भाई ! है ?

'चैतन्य महिमावंत को भगवान की सच्ची महिमा होती है। अथवा भगवान की महिमा समझना वह निज चैतन्यमहिमा समझने में निमित्त होता है।' भगवान सर्वज्ञ वीतराग अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति प्रभु । उसे समझने से मैं ऐसा हूँ। मैं भी अतीन्द्रिय आनंदकंद प्रभु, ज्ञायकस्वरूप अखंडानंद नाथ (हूँ)। ऐसे निमित्त को देखकर अपने स्वभाव की महिमा आती है। आहा..हा...! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो अध्यात्म तत्त्व की बात है। आहा..हा...!

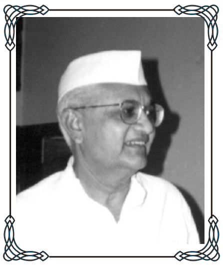

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथ के बोल-१७२ पर हुआ भाववाही प्रवचन

ता.१२-०२-१९८३, प्रवचन नं.६६१ (विषय : विधि)

अनुभवकी विधिका वर्णन करते हूए आचार्यदेव कहते हैं कि जीव द्रव्य स्वयंके द्वारा शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेमें समर्थ है। रागकी मन्दता थी या बहुत व्रत-तप आदि किये थे इसलिये आत्मज्ञान हूआ - ऐसा नहीं है। निजस्वरुपका ज्ञान नहीं था तबतक जो जीव अज्ञानवश विकार भावोंका वेदन और अन्भव करनेमें समर्थ था वह स्वयं ही स्वयंके द्वारा निजशुद्ध द्रव्यका अनुभव करनेमें समर्थ है, परन्तु अज्ञानीको निजद्रव्यकी सामर्थ्यका भान ही नहीं है। १७२

'परमागमसार' पृष्ठ-५१. १७२ नम्बर है। ४८वें कलश पर के प्रवचनमें से है। १७१ में जो विषय चला वही विषय १७२ का है। एक ही प्रवचन चल रहा है। थोड़ा अधिक स्पष्टीकरण करते हैं।

'अनुभव की विधि का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जीव द्रव्य स्वयं के द्वारा शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ है।' दृष्टान्त लिया था। सातवीं नरक में उसे कोई निमित्त नहीं है। उसे विधि बतलानेवाले वहाँ प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं है। फिर भी अन्तर में भेदज्ञान द्वारा अपने ही सामर्थ्य से शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने का पुरुषार्थ स्वयं प्रगट करता है। स्वयं के पुरुषार्थ से अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है। ऐसा स्वीकार करे तो उसे किसी के सामने देखना नहीं रहता। यदि ऐसा स्वीकार करे तो उसे किसी के सामने देखना नहीं रहता।

मूल कलश देखते हैं। सादा अर्थ क्या है ? ४८वां यानी कर्ता-कर्म अधिकार की शुरूआत का कलश। मांगलिक का ४६वां है। उसके बाद ४७वां है-भेदों के कथन को गौण करने का। ४८ वां है। **'इसप्रकार पूर्वकथित विधान से,...'** ७४ गाथा पूर्ण की है। ६९ गाथा से अधिकार शुरू हुआ है। अधिकार की पाँच गाथा पूर्ण की हैं। उसके बाद यह श्लोक है। **'इसप्रकार पूर्वकथित विधान से,...'** विधि बतलाये वह विधान। **'अधुना (तत्काल) ही परद्रव्य से उत्कृष्ट निवृत्ति करके, विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपने पर निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ...'** विज्ञानघनस्वभावरूप ऐसे केवल स्वयं पर निर्भयरूप से आरूढ़ होता हुआ **'अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ...'** स्वयं शब्द लिया है। **'विज्ञानघनस्वभावम् परम् स्वयं अभयात् आस्तिघ्नुवानः'** निर्भयरूप से आरूढ़ होता हुआ।

'अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के स्वभाव से उत्पन्न क्लेशों से...' **'स्वयं ज्ञानीभूतः'** स्वयं शब्द फिर से है। **'स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, जगत का साक्षी (ज्ञातादृष्टा) पुराण पुरुष (आत्मा) अब यहाँ से प्रकाशमान होता है।'** ऐसा कलश है। **'स्वयं ज्ञानीभूतः'**. स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ। खुद ज्ञानस्वरूप स्वयं होता हुआ। उसमें से यह भाव निकाला है। अर्थात् 'गुरुदेवश्री' भाव निकालते हैं, वह यह (भाव) है।

अर्थात् अनुभव की जो पर्याय है, उस काल का जो पुरुषार्थ है वह जीवद्रव्य स्वयं ही उस पुरुषार्थस्वरूप परिणमित हुआ है। ऐसे लेना है। जीवद्रव्य उस समय स्वयं ही उस पुरुषार्थरूप परिणमित हुआ है। पूर्वपर्याय के कारण परिणमित हुआ है, राग बहुत मन्द हुआ इसलिये

परिणमित हुआ है, ऐसा नहीं। राग तो ठीक लेकिन रागरस मन्द होता है तब स्वरूपरस उत्पन्न होने का अवकाश होता है, यदि स्वरूप सम्बन्धित पुरुषार्थ करे तो। इतनी शर्त है। ऐसा रागरस, रस को बतलानेवाले जो परिणाम हैं, जिसे लेश्या परिणाम कहा है। शास्त्र में रस को बतलानेवाले परिणाम को लेश्या परिणाम कहा है। जीव को शुक्ललेश्या के परिणाम होते हैं। द्रव्यलिंगी को शुक्ललेश्या के परिणाम होते हैं। नौंवी ग्रैवेयक जाता है। फिर भी उसके कारण शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है ऐसा नहीं है। शुक्ललेश्या के परिणाम हो तो जीव को शुद्ध स्वरूप का अनुभव हो, ऐसा नहीं है। कारण-कार्य घटता नहीं, ऐसा कहना है।

शुद्ध स्वरूप का पुरुषार्थ, वह शक्ति का स्वयं का परिणमन है। स्वतन्त्र परिणमन है। इसलिये उसे स्वयं की शक्ति को ही सम्भालनी चाहिये और किसी दूसरे के सामने उसे देखना रहा नहीं। पर निमित्त के सामने तो नहीं देखना परन्तु राग इतना मन्द हुआ इसलिये अब मुझे अन्दर में राग की बहुत मन्दता होने के कारण अनुभव की अनुकूलता हो गई, ऐसा भी उसे विचारना रहा नहीं। राग की बहुत मंदता की है इसलिये मुझे अब अनुभव करने में ठीक रहेगा, वह प्रश्न नहीं है। ऐसा तो हरगिज़ नहीं है कि तीव्र राग हो और तीव्र रागरस हो उसे अनुभव होवे। वह तो विचार करने का विषय ही नहीं। एक मन्द राग में भ्रान्ति होती है। रागरस मन्द होता है तब भ्रान्ति होती है कि अब इसके कारण अनुभव तो होगा न ? यह बात उसे भ्रान्ति में डालती है।

मुमुक्षु :- रागरस का पता कैसे चले ?

पूज्य भाईश्री :- रस है वह अनुभव का विषय है, देखिये न ! किसी-भी प्रसंग में रस तीव्र होता है या नहीं ? कोई भी प्रसंग में रस तीव्र होता है कि नहीं ? अनुभव से ही रस को समझना। कोई भी शुभाशुभ प्रसंग में तीव्र रस आता है या नहीं ? अथवा जो विषय उसे अच्छा लगता है, उस विषय का उदयमानपना होनेपर, रुचिवाले विषय का उदयमानपना होने पर रस तीव्र होता है कि नहीं ? उसे समझ सके ऐसा है। अनुभव से समझ सके ऐसा है कि तीव्र-मन्द क्या है ? नहीं समझ सकते ? क्रोध आता है तब क्रोध का रस तीव्र होता है। लोभ का प्रकार है-प्राप्ति। बाहर में संयोगों की प्राप्ति का प्रकार है वहाँ रस तीव्र होता है। मान-प्रकृति में मान की इच्छा हो और कोई मान देता है तब उसका रस तीव्र होता है। होता है कि नहीं ? उसका जो रस तीव्र होता है उसमें तो कोई जीव को कषायरस की तीव्रता में स्वानुभव प्रगट हो, चैतन्यरस उत्पन्न हो, वह तो प्रश्न नहीं है। परन्तु रस मन्द हो तो भी उसके कारण यहाँ अनुभव हो, ऐसा भी वस्तु के स्वरूप में नहीं है। यह एक विशिष्ट बात है। इस श्लोक की यह विशिष्ट बात है। ४८वाँ कलश है न ? उसमें से इस बात को उभारी है।

निमित्त के सामने तो तुझे देखना रहा नहीं, अपितु तेरे रागरस की मन्दता के सामने भी तुम मत देखना कि ऐसा हुआ, अब ऐसा होगा। ऐसा हुआ इसलिये अब ऐसा होगा। ऐसा नहीं है। इतनी बात ज़रूर है कि जिसे शुद्धात्मा का लक्ष्य है उसे इस शुद्धात्मा के चैतन्यरस की उत्पत्ति होने का प्रकार होने से, उसके परिणाम में चैतन्यरस उत्पन्न होने का प्रकार होने-से विभावरस अवश्य मन्द पड़ता है। ऐसा ज़रूर बनता है। परन्तु विभावरस मन्द पड़ा इसलिये यहाँ अनुभव हुआ, इसप्रकार उसका आधार नहीं लेना। कषाय की तीव्रता-मन्दता का आधार लेकर आगे बढ़ना नहीं होता। कषाय की तीव्रता के आधार से आत्मा में आगे नहीं बढ़ा जाता, परन्तु मन्दता का आधार लेकर भी आगे नहीं बढ़ा जाता। ऐसा यहाँ सिद्धान्त लेना है। जो सिद्धान्त लेना है वह इसप्रकार लेना है।

मुमुक्षु :- ध्रुव का आधार ले ?

पूज्य भाईश्री :- जिसका लक्ष्य है वह आधार का विषय है। जो शुद्धात्मा ज्ञान में आया, जिसका लक्ष्य बँधा कि यह मैं, इसप्रकार जो लक्ष्य बँधा उसका आधार लेने की बात है। उसके आधार से कषायादि का रस मन्द पड़ जायेगा। लेकिन वह तो जानने के विषय में जाता है, वह ज्ञान करने के विषय में जाता है। वह आधार और अवलम्बन लेने के विषय में नहीं जाता, ऐसा कहना है।

उपर यह शब्दप्रयोग किया है कि, **'व्यवहार रत्नत्रयरूप राग के अवलम्बन की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है,...'** यह स्पष्ट परिभाषा वहाँ आती है कि, तुम उसका अवलम्बन मत लेना। उसके अवलम्बन से कार्य नहीं होगा।

जीव क्या भूल करता है ? यह भूल टालने की खूबी बतलाते हैं कि, यह राग मन्द हुआ न ? अब मुझे अन्दर में स्वरूपस्थिरता की अनुकूलता होगी, इसप्रकार राग का अवलम्बन लेता है। राग की मन्दता हुई उसका अवलम्बन लेते हैं। कहते हैं कि राग की कोई भी स्थिति का तुम अवलम्बन मत लो। वीतरागस्वरूपी ऐसा तु आत्मा अनन्त सामर्थ्यवंत, तुम्हारे निज सामर्थ्य से तुम्हारा निजकार्य–स्वकार्य सधे ऐसा तुम्हारा स्वभाव है। राग की कोई मंदता की स्थिति का भी अवलम्बन लेकर कार्य सधे, कार्यसिद्धि हो ऐसा तुम्हारा स्वरूप नहीं है, ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :– अवलम्बन यानी राग के सामने देखता है ?

पूज्य भाईश्री :– हाँ। इसप्रकार आधार लेने में आ जाता है। उसमें साधन की कल्पना हो जाती है। उसे साधन गिनने में आता है कि यह राग मैंने मंद किया। सामान्यतः जीव अज्ञान में वहाँ से शुरूआत करते हैं कि पहले तो राग के निमित्तों को छोड़ो। इसलिये बाह्य त्याग में आते हैं। प्रतिज्ञपूर्वक बाह्य विषयों को छोड़नेपर, बाह्य पदार्थों का त्याग करनेपर उस प्रकार के परिणाम सामान्यरूप से मन्द हो जाते हैं। अभाव को प्राप्त नहीं होते। क्योंकि अभाव तो स्वरूपस्थिरता के स्वभाव के सद्भाव में ही विभाव का अभाव होता है। परन्तु वह परिणाम मन्द होते हैं। किसी को रस मन्द होता है तो अत्यन्त मन्द भी होता है। तो मैंने इतना किया, इसप्रकार अवलम्बन ले लेता है। मैंने ऐसा किया, मैंने ऐसा किया इसलिये मुझे अब अनुभव होगा, इसप्रकार साधन गिनकर, साधन गिनने से अवलम्बन लेता है तो ऐसे अवलम्बन से बिल्कुल आत्मा का अनुभव हो ऐसी परिस्थिति नहीं है। अवलम्बन उसे अपने स्वद्रव्य को पहचानकर उसका लेना है।

निज शुद्धात्म द्रव्य को, स्वभाव को पहचानने से, अनन्त सामर्थ्य को पहचानने से उसका लक्ष्य बँध जाता है कि मैं ऐसा ही हूँ। ज्ञान जितना उसे सुस्पष्टरूप से ग्रहण करता है, उतना ही उसका अवलम्बन बल प्रगट होता है। और तब उसका स्वकार्य सधता है। इसके अलावा और कोई विधि नहीं है। अन्य अवलम्बन का–राग का या निमित्त का अवलम्बन लेने का प्रकार नहीं आना चाहिये। जैसे, चलो ! शास्त्र तो घण्टा, दो घण्टा, चार घण्टा पढ़ते हैं। (इसप्रकार) अवलम्बन ले। अथवा ज्ञानी की वाणी प्रत्यक्ष सुनने तो मिली। 'गुरुदेव' की वाणी तो हररोज दो–दो घण्टे सुनने मिली। जब सुनते थे तब। इसप्रकार उसका अवलम्बन लेने जाय तो उसका कार्य नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उसके अवलम्बन से कार्य नहीं होगा। शास्त्र और गुरु ऐसा कहते हैं कि तुझे तेरे अवलम्बन से कार्य होगा और मेरे अवलम्बन से नहीं होगा। ऐसा स्पष्ट कहते हैं। ऐसा तुम मानो, ऐसा तुम स्वीकार करो। उसके बजाय तुम विपरीत अवलम्बन लो तो कभी कार्य होने का अवसर नहीं है। क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु :– जो जीव वह अवलम्बन नहीं लेता वह तो मार्ग में आता नहीं न ? भूमिका अनुसार उसे शास्त्र का अवलम्बन या स्वाध्याय...?

पूज्य भाईश्री :– अवलम्बन नहीं लेना। बीच में भले ही आये। निमित्त रूप से भले बीच में आये। परन्तु उसका अवलम्बन नहीं लेना। आये उसकी आपत्ति नहीं है, लेकिन अवलम्बन लेने का निषेध है। जो निषेध है वह मुद्दे की रकम में निषेध है। आये उसका कोई निषेध नहीं करता, परन्तु मुद्दे की रकम जहाँ अवलम्बन लेने की बात है वहाँ शास्त्र और–गुरु स्वयं निषेध करते हैं कि, नहीं, नहीं। भले ही तुम्हे हमारा योग हुआ, ऐसा ही कोई पुण्ययोग था तो गुरु–शास्त्र का योग हुआ। शास्त्र का, गुरु का योग होना, सत्शास्त्र का योग होना, सद्गुरु का योग होना वह पुण्ययोग है। कोई पूर्वकर्म के उदय से योग हुआ। लेकिन योग हुआ इसलिये अवलम्बन लेना, उसकी तो स्वयं ना कहते हैं। वह हमारी आज्ञा नहीं है।

हमारी आज्ञा पर पैर रखकर चलो, उसमें हमे मानते हो यह कहाँ आया ? ऐसा है।

मुमुक्षु :- पूरा ध्येय बदल जाता है न ?

पूज्य भाईश्री :- पूरा ध्येय बदल जाता है। उसका रास्ता अन्तर्मुख का है, उसका ध्येय अन्तर्मुख का है, उसके बजाय उसे बाहर का ध्येय हो जाता है। ऐसा है। वीतरागी वाणी में ही यह परिस्थिति है। सभी धर्म के ईश्वर कहलाये, महापुरुष कहलाये उनका सामान्य उपदेश ऐसा है कि तुम मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा। 'गीता' में आता है। 'माम् एकम् शरणं भजे।' तुम मेरे एक के 'माम् एकम्' मेरे एक के शरण में आओ 'अहं तुं मोक्ष एश्यामी महासूच' मैं तुम्हें मोक्ष प्राप्त करवाऊँगा। तुम ज़रा-सा भी विचार मत करो। महासूच। तुम विचार मत करो। कुछ विचार मत करना। तुम एक मेरी शरण में आ जाओ न। मैं तुम्हारा मोक्ष करवा दूँगा। ऐसा सामान्यरूप से उपदेश होता है। एक वीतरागी वाणी में वीतरागदेव ऐसा कहते हैं, वीतरागी गुरु ऐसा कहते हैं, वीतरागी शास्त्र ऐसा कहते हैं कि तुम अन्तर्मुख होगी और तुम्हारे अवलम्बन से, शुभराग से जो हमारा अवलम्बन तुम्हें वर्तता है, ऐसा करने की भी हमारी आज्ञा नहीं है। यह वीतरागी वाणी में है।

'गुरुदेवश्री' कहते थे कि, मुँह तक आया निवाला किसे अच्छा नहीं लगता ? कि, एक वीतराग की वह शक्ति है, वीतरागता में वह सामर्थ्य है कि वे मुँह तक निवाला आये तो भी उसके सामने देखते नहीं। समवसरण की स्तुति में है न ? 'भले सो इन्द्रोना रतनमय स्वस्तिक बनता' सौ-सौ इन्द्र समवसरण में भगवान को वन्दन करते हैं, नमस्कार करते हैं। 'नथी ए ज्ञेयोमां तुझ परिणति सन्मुख ज़रा, स्वरूपे डूबेला नमन तुजने ओ जिनवरा' आप उनके सामने नहीं देखते। आप तो स्वरूप में लीन रहते हो। ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ। क्यों ? ऐसा होना है इसलिये नमस्कार करता हूँ। अन्य कोई कारण नहीं। 'वन्दे तद्‌गुण लब्धये'-ऐसे गुणों की प्राप्ति अर्थ मैं नमस्कार करता हूँ।

मुमुक्षु :- एक ओर यह बात है और दूसरी ओर ऐसा कहते हैं कि आश्रय में रहोगे तो..

पूज्य भाईश्री :- वह इसप्रकार आश्रय मे रहने की बात है। उसका अर्थ है कि बहुमान लाना। गुणों का बहुमान तुम लाना। तुझे गुणों का अत्यन्त-अत्यन्त बहुमान आयेगा तो आत्मिक गुण प्रति ढलने का अवसर है। गुणों की महिमा है, गुण की महिमा है, उसमें अन्य कोई कारण नहीं है।

मुमुक्षु :- बीच में आना और अवलम्बन में दो में क्या अन्तर है ?

पूज्य भाईश्री :- अन्तर है। अवलम्बन नहीं आये। आये सही, अत्यन्त बहुमान आये, देव-गुरु-शास्त्र का बहुत बहुमान आये कि, अहो..! जगत में अनन्त-अनन्त काल से जीवों को प्राप्त नहीं हुआ ऐसा अन्तर्मुखता का मार्ग, उस सन्मार्ग को दर्शानेवाले देव-गुरु-शास्त्र जयवंत वर्तो ! बहुत बहुमान आये फिर भी अन्तर में शुद्धात्मा के अवलम्बन की बात मुख्य रखकर वह बात है। उस बात को गौण करके वह है, ऐसा कहीं नहीं हो सकता। ऐसा है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- उसमें क्या है कि आखिर में उसे मालूम है। बहुमान लानेवाले को भी यह मालूम है कि मुझे स्वरूपस्थ होने के लिये यह सब चल रहा है। इसमें क्या है ? व्यवहार में प्रक्रिया बदलती हैं लेकिन निश्चय प्रयोजन बदलता नहीं। व्यवहार के पहलू की अनेकविध प्रकार की प्रक्रिया बदलती है। एक आदमी आर्थिक प्रयोजनार्थ व्यापार करे या कारखाना शुरू करे तो अनेक प्रकार से व्यवहार करता है। माल खरीदने का व्यवहार करे, माल बेचने का व्यवहार करे, माल बनाने का-एक Form में से दूसरे Form में-कच्चे मालमें से पक्का माल (बनाये), वह तो Transfer - उसकी अवस्था ही बदलती है न ? अनेक प्रकार का व्यवहार करने के बावजूद आर्थिक प्रयोजन अखण्ड निश्चयरूप से है। कहीं निश्चय बदलता है ? इसप्रकार गुण के सामने देखे तो भी एक ही प्रयोजन है और दोष का ज्ञान करे तो भी वही प्रयोजन है।

कल प्रश्न उठा था न ? 'दीठा नहीं निज दोष तो

तरीए कोण उपाय, अधमाअधम अधिको पतित सकळ जगत मां हूँ, ए निश्चय आव्या विना साधन करशे शुं ?' वह सब व्यवहार बदलते हैं। चाहे दोष का ज्ञान करे, चाहे गुण का ज्ञान करे, चाहे देव-गुरु-शास्त्र की महिमा-भक्ति आये, कहीं नहीं निश्चय नहीं बदलता। व्यवहार के अनेविध प्रकार है परन्तु कहीं निश्चय-प्रयोजन नहीं बदलता।

दोष की निंदा करता है तब भी गुणप्राप्ति का प्रयोजन है और गुण का अभिनन्दन करता है तब भी गुणप्राप्ति का ही प्रयोजन है। उसमें प्रयोजन कहीं बदलता है ? प्रयोजन पर जिसका ख्याल नहीं है उसे ऐसा लगता है कि ये दोष की बात कहाँ बीच में आयी ? वह तो नास्ति है, गुण की बात तो अस्ति है। अपने अस्ति से ही शुरूआत करते हैं, भाई ! व्यवहार में तो दोनों प्रकार आते हैं। माल ख़रीदे बिना बेचने का प्रश्न नहीं रहता। मात्र खरीद लेने से मुनाफा नहीं हो जाता, बेचने से मुनाफा होता है। लेकिन बेचे कब ? कि, खरीदे तब तो ठीक है न ? व्यवहार में तो अस्ति-नास्ति दोनों पहलू उत्पन्न होते हैं। परन्तु भले ही हो। प्रयोजन तो एक ही है। उसमें दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।

निश्चयप्राप्ति का जो प्रयोजन है वह कहीं नहीं बदलता, कहीं पर भी नहीं बदलता। भले ही व्यवहार के कोई भी विकल्प उत्पन्न हों। व्यवहार रत्नत्रय के हिसाब से ज्ञान के, दर्शन के, चारित्र के, पुरुषार्थ के अनेकविध प्रकार के (विकल्प उत्पन्न हों)। वह दोष की निंदा है और चारित्रकी मुख्यता से विकल्प है। नौ तत्त्व का जो विकल्प है वह श्रद्धान की मुख्यता से है और अनेक प्रकार की नय विविक्षा से वस्तु के स्वरूप का विचार करना वह ज्ञान का विकल्प है। फिर भी हर जगह प्रयोजन एक ही है। कहीं प्रयोजन बदलता नहीं कि 'येन केन प्रकारेण' कोई भी प्रकार से अन्तर्मुख होना है ऐसा जो ध्येय है, ऐसा जो लक्ष्य है, उस लक्ष्य के अर्थ, प्रयोजनार्थ सर्व प्रवृत्ति है।

'श्रीमद्‌जी' तो यहाँ तक लिखते हैं कि, खाना है तो आत्मार्थ के लिये, पैसे कमाने हैं तो आत्मार्थ के लिये, सोना है तो आत्मार्थ के लिये, बैठना है तो आत्मार्थ के लिये, चलना है तो आत्मार्थ के लिये, बोलना है तो आत्मार्थ के लिये। उसका अर्थ क्या होता है ? ऐसे वचन आते हैं।

मुमुक्षु :- ऐसे वचन आते हैं परन्तु रोना आत्मार्थ के लिये कैसे हो सकता है ?

पूज्य भाईश्री :- रोना है तो भी आत्मार्थ के लिये।

मुमुक्षु :- फिर तुझे मोक्ष नहीं मिले तो...

पूज्य भाईश्री :- अर्थात् ऐसा कहते हैं कि, वे जो कहते हैं उसे तुम सम्पूर्ण रूप से स्वीकृत करना। उनकी शरण में जा उसका अर्थ क्या है ? Surrender होने की बात है न ? वे जो कहते हैं उसे तुम स्वीकृत करना, ऐसा कहते हैं। वे जो भी कहते हैं उसे तुम स्वीकृत करना। विकल्प मत करना कि ऐसा क्यों कहा ? ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- इसमें तो परीक्षाबुद्धि कहाँ रही ?

पूज्य भाईश्री :- उसमें परीक्षाबुद्धि इसप्रकार है कि जब मुझे समझ में नहीं आता... सब स्वीकृत करना ऐसा कहा इसलिये सब स्वीकृत हो जाये ऐसा थोड़ा ही है ? कोई ऐसा वचन आये कि अरे..! ऐसा क्यों कहा ? तत्त्वविचार के साथ इसका मेल क्यों नहीं बैठता ? फिर भी उन्होंने जो कहा है वह सत्य है और मुझे समझ नहीं आता उसमें कुछ मेरी भूल है, इसप्रकार अपनी भूल की अन्तरखोज में जाये। इसप्रकार बात लेते हैं। मान लेना अर्थात् अन्दर नहीं बैठे तो भी मान्य करना, ऐसा मत रखना। अन्दर में उसे मन्थन से, उसकी खोजकर, उसकी पहचानकर स्वीकृत करना। ऐसा अनेकबार बनता है कि, सत्पुरुष का वचन हो और फिर भी ऐसा लगे कि ऐसा क्यों ? आज यह बात ऐसे क्यों आयी ?

एकबार 'गुरुदेवश्री' ने रात्रिचर्चा में पूछा कि सोने का भाव क्या है ? ठीक ! क्या पूछा ? सोने का भाव क्या है ? सब सोच में पड़ गये। 'गुरुदेव' को गहने थोड़े ही न बनवाने हैं। है क्या ? सोने का भाव क्यों पूछा ? और वीतराग की मूर्ति को तो गहने भी नहीं हैं। इसलिये भगवान के लिये भी विचार नहीं है। खुद के लिये तो

प्रश्न नहीं है। इसलिये चमके। लेकिन वहाँ उसे अत्यन्त जिज्ञासा होनी चाहिये कि, इसमें कुछ तो रहस्य है। फिर तो स्वयं ने बात खोली कि सोने का भाव पूछने का हमें कोई काम नहीं है, परन्तु जीव के सोने के प्रति भाव क्या है वह बात लेनी है। भाव सोने का नहीं है, भाव तो जीव का है। सोना तो जो सोना एक तोला है वह कल एक तोला है और सौ साल के बाद एक तोला है। परन्तु बीस रूपये तोला था और आज दो हज़ार रूपये तोला हो गया तो उसमें जीव के भाव में फ़र्क़ पड़ा है। सोने के भाव में फ़र्क़ नहीं पड़ा। बात ऐसी कुछ लेनी थी।

कुछ परमार्थ कहना चाहते हैं उसका लाभ तुझे होगा। नहीं तो नहीं। ऐसा 'श्रीमद्‌जी' का एक वचन था। 'मुम्बई' 'माटुँगा' में व्यवसायार्थ रहते थे। एक भाई रात को साथ में सोये थे। उसमें कुछ विचार या चिंतवन चलता होगा तो पूछा, क्यों भाई ! जाग रहे हो ? हाँ, जग रहा हूँ। प्यास लगी है ? क्या पूछा ? वह भाई सोच में पड़ गये कि अभी शाम को चोविहार किया है। रात को पानी पीने की बात कहाँ–से आयी ? शंका हो गई।

मुमुक्षु :– 'मणिभाई'....

पूज्य भाईश्री :– 'मणिभाई' की ही बात है। उनके मामा की बात है। 'बोटाद' के 'मणिभाई गाँधी'। 'मणिभाई' ! प्यास लगी है ? ऐसा पूछा। लेकिन समझे नहीं। साहब ! हमारा तो चोविहार हो गया है। रात को पानी कैसै पीएं ? साथ में भोजन लिया होगा। चोविहार कर लिया होगा। कहा, ठीक–ठीक। हो गया, बात संक्षेप कर ली।

मुमुक्षु :– भावि प्रबल।

पूज्य भाईश्री :– भावि प्रबल, भावि प्रबल, इतने शब्द बोले। अर्थात् उसकी जो जिज्ञासा होनी चाहिये (वह नहीं है)। उसकी समझने की भूमिका जाँच ली कि अभी वह जीव कुछ समझने की तैयारी में खड़ा है या नहीं ? तो उनका अन्तरंग खुल जाता। लेकिन देखा कि कुछ कहूँगा तो भी इसे कुछ समझ में नहीं आयेगा। बात छोड़ दी। ऐसा बहुत बार बनता है। इसलिये परीक्षा करने का अर्थ यह है कि परीक्षा करो तब गुण की परीक्षा करना। और गुण की परीक्षा करके तुम स्वीकृत करना। उस गुण की महिमा आयेगी बाद में पूरी बात बदल जायेगी। फिर तुम्हें समझ आयेगा कि क्या कहना चाहते हैं ? ऐसा है।

रोना है आत्मार्थ के लिये, उसका अर्थ यह है कि खुद को खुद का जो वियोग है, आत्मार्थी को निज परमात्मपद का वियोग है उसका उसे दुःख, इतना दुःख होता है कि वह रोता है, इतना उसे दुःख होता है। उसका अन्तरंग रोता है तो आत्मार्थ के लिये रोता है। आत्मार्थी की भूमिका में वह भी एक स्थिति आती है। 'गुरुदेवश्री' के जीवनचरित्र में वह बात है। जीवनचरित्र प्रकाशित किया है न हमने ? उसमें एक जगह वह बात आती है।

मुमुक्षु :– वचनामृत में...?

पूज्य भाईश्री :– नहीं। वचनामृत में डाला है लेकिन वचनामृत प्रवचन में डाला है। अभी अलग प्रकाशित किया है उसमें वह बात है। वह परिस्थिति आती है। प्रत्येक को वह परिस्थिति आती है। इसलिये वह बात ली है। बहुत वचन रखे हैं परन्तु वह बात भी उसमें ली है। इसलिये वह सब व्यवहार के परिणाम हैं वह अनेकविध प्रकार से होते हैं। अनेकविध प्रकार से परिणाम होनेपर भी प्रयोजन अखण्डरूप से सभी में एक ही रहता है। अखण्ड प्रयोजन कहीं बदलता नहीं।

मुमुक्षु :– ...

पूज्य भाईश्री :– क्या लिखा है ?

मुमुक्षु :– वर्तना.. अभी जो बात आयी न कि ... बढ़ता जाता है..

पूज्य भाईश्री :– उसमें क्या है कि उसमें स्वच्छन्द मिटने का सबसे बड़ा प्रकार है। जीव शास्त्र अध्ययन करे, अनेक प्रकार से इस विषय को समझे तब उस प्रकार में नहीं आया हो तो स्वच्छन्द के प्रकार में सहज ही आ जाता है। उसे ऐसा लगता है कि मैं भी समझता हूँ। मैं भी समझता हूँ ऐसा जो प्रकार आता है वह उसे स्वच्छन्द हुआ है, यह उसे मालूम नहीं।

जब कि सत्पुरुष के सान्निध्य में उनके प्रति जो अर्पणतावाला भाव है, कैसी अर्पणतावाला ? कि मानो खुद एक दास बन गया हो, Surrender हो गया हो,

शरण में आ गया हो उसे वह स्वच्छन्द नहीं होता। मार्ग सूक्ष्म तो है। एक ओर से ऐसा कहे कि, तुम सत्पुरुष की शरण में रहना, जाना। दूसरी ओर कहे कि जो जीवद्रव्य शुद्ध स्वरूपरूप परिणमता है वह अपने सामर्थ्य से परिणमता है और उसमें निमित्त अकिंचित्कर है। कुछ नहीं करता। ऐसा है। लेकिन वह जानता है, जो सत्पुरुष की शरण में जाता है वह भी ऐसा जानता है कि कार्य तो मुझे करना है। ये मार्ग दर्शानेवाले हैं और वह मार्ग देखने के लिये उनका बहुमान आना आवश्यक है। नहीं तो दर्शानेवाले मिल तो भी दिखे नहीं, दर्शानेवाले मिले और दिखे नहीं। दिखे तब कि जब दर्शानेवाले के प्रति बहुमान उत्पन्न हो, तब। ऐसा है। उस परिस्थिति की अनिवार्यता देखकर वहाँ इतना मार्गदर्शन दिया है। बस ! इतनी बात है।

बाहर में कुछ भी काम करना हो तो दीनता करता है या नहीं ? Office में जाये तो ऊपर का Officer हो, सेठ हो, ग्राहक हो, उसे लाभ करवानेवाला हो तो उसे अच्छा लगाने के सब प्रयत्न करता है या नहीं ? समधी हो और बड़े श्रीमंत हो (उन्हें) अच्छा लगाने का प्रयत्न करता है या नहीं ? अपने रिश्ते अच्छे रहने चाहिये। अनेक प्रकार से उसे जहाँ थोड़ा-सा भी लाभ दिखता है वहाँ उससे अनुकूल वर्तता है। तो फिर यहाँ तो सामनेवाले को कुछ चाहिये नहीं। ज्ञानी को अपेक्षा नहीं है।

इस जगतमें से जिसे कुछ नहीं चाहिये उनका नाम ज्ञानी है। और किसी के पास से कुछ भी नहीं लेने की गुप्त वृत्ति का आचरण है। उनकी गुप्त वृत्ति है। जीव उनके अनुकूल होता है वह उनके लिये नहीं होता। उनकी महिमा लाकर उन्हें अनुकूल होता है वह स्वयं के लिये होता है। उनके लिये नहीं। उन्हें नहीं चाहिये। परन्तु उसकी इतनी तैयारी होनी चाहिये। अनन्त भवभ्रमण मिटने का यह एक जबरजस्त बाह्य कारण है। अन्तरंग कारण तो स्वयं का पुरुषार्थ है, परन्तु यह बाह्य कारण है कि जो अनादि से उनके प्रति बहुमान के अभाव के कारण इस विषय की उसे समझ नहीं आयी। वैसे तो समवसरण में जाकर मणिरत्न के दीपक से आरती उतारी है। हीरे का थाल और मणिरत्न का दीपक। लेकिन जो महिमा उसे जिसप्रकार यथार्थरूप से आनी चाहिये वह महिमा नहीं आयी।

मुमुक्षु :– वहाँ उनका नहीं माना।

पूज्य भाईश्री :– वहाँ उसने माना नहीं।

मुमुक्षु :– महिमा आये तो माने।

पूज्य भाईश्री :– गुण की प्रधानता में आना चाहिये। वह मुख्य बात है। पुण्य की प्रधानता में नहीं। वहाँ सब पुण्ययोग है। समवसरण का ठाठ है, चारों ओर जाजवल्यमान है। समवसरण में प्रवेश होते ही यह परिस्थिति है कि सभी पदार्थ जगमगाते हैं। उसकी दीवार, कंगूरे से लेकर सब रजकण प्रकाश.. प्रकाश.. प्रकाश.. दिन-रात का कोई अन्तर नहीं दिखता। इतना प्रकाश। भगवान का इतना प्रकाश है। शरीरमें से (निकलता है)। वहाँ उसे सब ओहो..! ओहो..! ओहो..! लगता है, परन्तु वह सब पुण्य का ठाठ देखकर ओहो..! लगता है। अन्दर में गुण की प्रधानता, वीतरागता की जो प्रधानता आनी चाहिये तो पूरी परिस्थिति बदल जाती है। यदि वहाँ वीतरागता की महिमा आये तो सहज ही वीतरागता उत्पन्न हो ऐसा अवसर है। उत्कृष्ट योग है। लेकिन वहाँ भी उसने वीतरागता को छोड़कर अन्य तत्त्व की महिमा की है। तब तक उसे आत्मतत्त्व की महिमा छोड़कर, पुण्यतत्त्व है वह अन्य तत्त्व है। अन्य तत्त्व की महिमा की है इसलिये उसे वीतरागता उत्पन्न नहीं हो सकी।

मुमुक्षु :– सत्पुरुष सिंहनाद करते हैं कि स्वयं होगा।

पूज्य भाईश्री :– स्वयं होगा, ऐसा वे कहते हैं। वे ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम अभी और अधिक भक्ति बढ़ाओ, कुछ भक्ति बढ़ाओ ऐसा नहीं कहते। उन्हें कोई अपेक्षा नहीं है। दूसरे की बात आये तो ऐसा कहे, उनकी भक्ति करो, तुम उनकी भक्ति करो। स्वयं के विषय में कभी नहीं कहेंगे। कोई मस्ती आये और कहें वह अलग बात है।

मुमुक्षु :– शुरूआत में है।

पूज्य भाईश्री :– हाँ, है न उसमें। अर्थात् एक आत्मप्राप्ति का जिसे प्रयोजन है उसे सर्व प्रवृत्ति में आत्मार्थ कैसे सधे वह लक्ष्य छूटता नहीं। अर्थात् सर्व प्रवृत्ति में वह वही खोजता है। कमाना है तो कमाई हेतु

नहीं कमाना, परिग्रह के लिये नहीं कमाना अपितु यह कैसे छोड़ दूँ। उसे छोड़ने के लिये प्रवृत्ति करता है। दुकान चलाने के लिये दुकान नहीं चलाते, दुकान बन्द करने के लिये चलानी पड़ती है। चलानी नहीं है लेकिन चलानी पड़ती है। ऐसी बात है। इसप्रकार।

उसीमें है। '**दूसरा कुछ मत खोज। मात्र एक सत्पुरुष को खोजकर उसके चरणकमल में सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति किये जा।**' सर्व भाव अर्पण करना, ऐसा कहते हैं। भाव का पहलू लिया है। ऐसा नहीं कहा है कि दान दे देना, जा। ऐसा नहीं। सर्व भाव अर्पण करके प्रवृत्ति किये जा। '**फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।**' है न शैली ! फिर यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।

'**सत्पुरुष वही है कि जो रात दिन आत्मा के उपयोग में है, जिसका कथन शास्त्र में नहीं मिलता, सुनने में नहीं आता,...**' शास्त्र में नहीं है, ऐसे आगम के साथ मिलान करने मत जाना। '**शास्त्र में नहीं मिलता, सुनने में नहीं आता,...**' परीक्षा आगम से नहीं करनी है। परीक्षा गुण-दोष के पहलू से करनी है। '**फिर भी अनुभव में आ सकता है; अंतरंग स्पृहारहित जिसका गुप्त आचरण है।**' उन्हें स्पृहा नहीं है। तुम मेरी शरण में आओ ऐसी उन्हें स्पृहा नहीं है। फिर भी वह स्थिति आये बिना प्राप्ति नहीं होती, ऐसा जानकर कहते हैं। शुरूआत में कहीं पर है। वह सब है। '**रात-दिन एक परमार्थ विषय का ही मनन रहता है। आहार भी यही है, निद्रा भी यही है, शयन भी यही है, स्वप्न भी यही है, भय भी यही है, भोग भी यही है, परिग्रह भी यही है,...**' वह लिया है। आत्मार्थे.. आत्मार्थे ऐसा आता है।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- इस ओर है न ? यह भी इस ओर ही है लेकिन अब २८वें वर्ष में तो नहीं मिल रहा।

'**राग की मन्दता थी या बहुत व्रत-तप आदि किये थे इसलिये आत्मज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है।**' राग की मन्दता हुई थी, वह तो बहुत बार हो चूकी है। अनन्त बार हुई है, परन्तु उससे कोई आत्मज्ञान हो वह प्रश्न नहीं है। पुनः बाहर में त्यागपूर्वक '**बहुत व्रत-तप आदि किये थे इसलिये आत्मज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है।**' वास्तव में वह कारण नहीं है। ऐसा हो सकता है, अभवि को भी होता है। '**निजस्वरूप का ज्ञान नहीं था तबतक जो जीव अज्ञानवश विकार भावों का वेदन और अनुभव करने में समर्थ था वह स्वयं ही स्वयं के द्वारा निजशुद्ध द्रव्य का अनुभव करने में समर्थ है, परन्तु अज्ञानी को निजद्रव्य की...**' निज द्रव्य के सामर्थ्य की '**भान नहीं है।**' ऐसा लिया है।

क्या कहते हैं ? कि राग की मन्दता और बाहर के व्रत, शील, संयम आत्मज्ञान का वास्तविक कारण नहीं है। आत्मज्ञान का कारण, आत्मप्राप्ति की जिज्ञासा से आत्मा को पहचानना और पहचानने के बाद उसकी महिमा आनी और महिमा आने के बाद कोई अपूर्व स्थिति पर पहुँचने पर अनुभव होना, उसे आत्मज्ञान का कारण कहने में आया है। इसके अलावा कोई बाह्य प्रवृत्ति से आत्मज्ञान हो, राग की मन्दता की बाह्य प्रवृत्ति से भी आत्मज्ञान हो, यह वास्तव में वस्तुस्थिति नहीं है।

'गुरुदेवश्री' उसका दृष्टान्त देते थे कि अन्धेरे में एक सुई गुम गई हो और नहीं मिल रही हो तो कोई ऐसा कहे कि चलिये उजाले में ढूँढ़ते हैं। अन्धेरे में तो नहीं मिल रही। अब जहाँ उजाला हो वहाँ अपने ढूँढ़ते हैं। लेकिन जहाँ गुम हुई है वहाँ खोज करनी है या जहाँ गुम नहीं हुई वहाँ खोज करनी है ? जहाँ गुम हुई है वहाँ खोजने की बात है। इसप्रकार जिस विधि से, जिस रीत से अनादि से देव-गुरु-शास्त्र ने विधि का विधान बतलाया है उसे छोड़कर दूसरे कोई भी प्रकार से कार्य करने लगे तो उसे आत्मज्ञान हो और भवभ्रमण का अभाव हो जाय, ऐसा कभी नहीं बनता। ऐसा कहना चाहते हैं।

'**निजस्वरूप का ज्ञान नहीं था तबतक जो जीव अज्ञानवश विकार भावों का वेदन और अनुभव करने में समर्थ था...**' क्या पद्धत्ति है यहाँ ? कि आत्मा का अनुभव करना है न ? तो तुझे अनुभव करना नहीं आता, वह प्रश्न नहीं है। जब आत्मज्ञान नहीं था, ऐसा कहना है, स्वयं के स्वरूप का ज्ञान नहीं था तब जीव

अज्ञानपने, विकार कि जो परभावस्वरूप है उसे स्वपने वेदता था, अनुभवता था। इसप्रकार अनुभव करने का जो सामर्थ्य है वह तो है, है और है। अनुभव नहीं है और अनुभव करने का सामर्थ्य नहीं है, ऐसा कुछ नहीं है।

अज्ञानभाव से जैसे वह पर को स्वपने वेदता है और अनुभवता है, वह आत्मा पहचानकर आत्माको स्वपने वेदे और अनुभव करे, ज्ञान को पहचानकर ज्ञान को स्वपने वेदे और अनुभव करे। बस ! इसप्रकार फेरफार करना है। लेकिन वह उसका सामर्थ्य है। अज्ञान में या ज्ञान में, अज्ञानी हो तब या ज्ञानी हो तब, अनुभव करने का सामर्थ्य तो है, है और है ही। बस ! एक अज्ञान है तब पर को स्व-पने अनुभव करता है और वेदन करता है। ज्ञानी होनेपर वह स्वयं को स्वपने-स्वयं के रूप में अनुभवता है और वेदता है। यह फ़र्क़ पड़ता है। बाकी अनुभवता है और वेदता है वह विषय चालू ही है। उसमें कुछ नया नहीं करना है। नहीं था और करना है वह प्रश्न नहीं है।

कर्तृत्व भी यहीं से खत्म होता है कि वह सामर्थ्य, पुरुषार्थ करना न ? पुरुषार्थ की ऐसी पर्याय तेरी चालू ही है। मात्र दिशान्तर है इसलिये दशान्तर है। विपरीत दिशा में वह पुरुषार्थ लगा है इसलिये कार्य विपरीत हो रहा है। दिशा बदले, स्व-पर का ज्ञान होनेपर सहजरूप से दिशा बदल जाये कि यहाँ स्व है। पर है वहाँ स्व नहीं है। पर में स्वपने का अनुभव भ्रान्तिगतरूप से होता है परन्तु पर में कहीं स्वपना नहीं है। इसप्रकार स्व-पर की पहचान में दिशा स्वयं ही ज्ञान के कारण बदलती है। बदलनी पड़ती है ऐसा तो वहाँ करना पड़ा न ? ऐसा नहीं है। ज्ञान होनेपर दिशा बदल जाती है। तब जीव स्व को स्वपने वेदता है और पर को परपने वेदता है। उसकी भ्रान्ति मिट जाती है।

इसलिये बहुत संक्षेप में ऐसा कहने का कारण यह है कि ज्ञान वह मैं, ऐसे लेना। बहुत संक्षेप में जब बात आती है। मैं ज्ञानमात्र, ऐसा लिया है न ? ज्ञानमात्र वस्तु हूँ। ऐसा लिया है। वह जो ज्ञान में स्वपना आना, आना अर्थात् अनुभव होना, वेदन होना वह सम्यक् है। और पर में मैंपना का वेदन होना वह असम्यक् अथवा मिथ्या है। बस ! इतना ही है। संक्षेप में लें तो इतना ही है। भूल भी इतनी ही है और भूल का टलना भी इतना ही है।

मुमुक्षु :- राग में तन्मय होकर मैंपना नीरस हुआ ?

पूज्य भाईश्री :- राग में तन्मय है। अब ज्ञान में तन्मय हो। दोनों उपस्थित हैं। ऐसा भी नहीं है कि किसी एक को ढूढ़ने जाना पड़े। राग और ज्ञान जीव को दोनों भाव सर्व काल विद्यमान हैं। एक स्वभाव है और एक विभाव है। विभाव में मैंपना हो रहा है वह मिथ्यात्व के रोग का निदान है। अब मैंपना तो हो ही रहा है। वह उसे करना नहीं आता वह प्रश्न नहीं है। पुनः पर में मैंपना करना तो आता है। तो स्व में मैंपना करने में तुझे दिक्कत क्या है ? इतना सवाल है। मैंपना तुझे, पर में जहाँ तेरा मैंपना नहीं है वहाँ तुझे मैंपना करना आता है, तो जहाँ तू है वहाँ तुझे मैंपना करने में दिक्कत क्या है ? बस ! इतना अन्तर में उतरकर देख तो अन्दर में तेरी स्वरूपप्राप्ति की भावना तुझे मार्ग की सूझ देगी। स्वरूपप्राप्ति की भावना बिना देखने जायेगा तो तुझे मार्ग सूझेगा नहीं। भावना होनी चाहिये। इसलिये तो उसने सब लक्षण लिये हैं कि किसे भावना हुई है ? कि जिसे वर्तमान में चलते विकल्प में-राग में दुःख लगता है उसे। दुःख में दुःख न लगे वह दुःख से छूटने की वास्तविक भावना है ऐसा नहीं है। वह सब उसके लक्षण लिये हैं।

है ? 'वचनामृत प्रवचन' में है कि नहीं ? उसमें है। बहुत मंथन, बहुत मंथन किया है तब वह विषय (आया) है। लघु वय में कभी नाटक देखने जाते तब वह सब लिया है। 'गुरुदेवश्री'ने दीक्षा लेने के बाद तुरन्त ही श्वेताम्बर शास्त्रों का कड़ा अभ्यास शुरू कर दिया। करीब चार साल में ४५ आगम, लाखों श्लोको की टीका सहित विचारपूर्वक उन्होंने पढ़ लिया। स्थानकवासी में दीक्षा ली थी। उसमें ३३ आगम हैं। परन्तु ४५में से ३३ छाँटे हैं। स्थानकवासी के कोई महाराज या कोई साधु ने उसकी रचना नहीं की है। रचना श्वेताम्बर साधुओंने की है। देरावासी मूर्तिपूजक। उसमें से उन्होंने मूर्ति की स्थापना का प्रकरण नहीं हो ऐसे ३३ (आगम) छाँट लिये। लेकिन

खुद ने ४५ आगमों का अध्ययन कर लिया। कितने ? करीब चार साल में ४५ आगम, लाखों श्लोकों की टीका सहित अध्ययन किया।

दीक्षापर्याय दौरान उन्होंने श्वेताम्बर शास्त्र का अत्यंत मननपूर्वक अभ्यास किया। लाख श्लोक प्रमाण टीका भगवती सूत्र उन्होंने सत्रह बार पढ़ा था। भगवती सूत्र है, एक लाख श्लोकप्रमाण उसकी टीका है। वह सत्रह बार पढ़ा था दीक्षा के काल में। प्रत्येक कार्य करते हुए... देखिये ! यह बात है। 'प्रत्येक कार्य करते हुए उनका लक्ष्य सत्य की खोज प्रति ही रहता।' लक्ष्य (यह) है कि इसमें सत्य क्या है ? वह खोजने का लक्ष्य था। प्रत्येक कार्य करनेपर भी जो लक्ष्य था वह सत्य की खोज में था। 'फिर भी जिसकी खोज में वे थे वह उन्हें अभी प्राप्त नहीं हुआ था। अथकरूप से उल्लसित वीर्य से खोजकवृत्ति चालू ही थी।' तब 'समयसार' मिला। ऐसे लेना है।

एक जगह है। तीव्र दुःख धारण करता था। यहाँ है, देखिये ! 'पाठशाला (स्कूल) के लौकिक ज्ञान से उनके चित्त को सन्तोष नहीं होता था, गहराई में यह रहा करता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ वह यह नहीं है।' सत्य की खोज में थे न ? 'कईबार यह दुःख तीव्रता धारण करता।' देखिये ! दुःख लगना चाहिये। 'कईबार यह दुःख तीव्रता धारण करता और एकबार तो माता से बिछड़े बालक की भाँति वे बाल महात्मा सत् के वियोग में बहुत रोये थे।' ठीक ! छोटे बालक का आधार उसकी माँ है। उससे बिछड़कर खो जाय। जैसे-तैसे भी चूप नहीं रहता। पेडा दे, खिलौने दे, कुछ भी दे। उसके लक्ष्य में उसकी माँ है वह उसे चाहिये। किसी तरह उसे अन्य कुछ नहीं दिखता। इसप्रकार उसे जो चाहिये वह नहीं प्राप्त हो तो उसका उसे दुःख लगना चाहिये। चलता है, कोई तकलीफ नहीं है। खाते हैं, पीते हैं। साफसूथरी थाली में (खाना खाने में) कोई अडचन नहीं है। इसप्रकार जहाँ वह खड़ा है वहाँ उसे अच्छा लगता है और रुचता है वहाँ खिसकने का उसे कोई प्रयत्न हो, यह प्रश्न नहीं रहता। वह लिया है। 'सत् के वियोग में खूब रोये थे।' ऐसी बात ली है। यह तो लघुवय में यह परिस्थिति थी। तैयारी कब-से हुई ? ग्यारह साल के बाद स्कूल छोड़ दी तब से यह तैयारी थी। छोटी उम्र में।

मुमुक्षु :- अलग से प्रकाशित हो गया ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ। अलग हिन्दी में प्रकाशित हुआ है। इसका हिन्दी किया। इसी का हिन्दी करके 'आत्मधर्म' के हिन्दी ग्राहकों को भेंट पुस्तक के रूप में भेजनेवाले हैं। यहाँ तक रखते हैं।

'राजहृदय' भाग - १३ एवं १४ का प्रकाशन

आगामी प्रकाशन 'अनुभव प्रकाशना किरणों' भाग-२

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर द्वारा प्रकाशित किए जा रहे श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ पर के धारावाही प्रवचन 'राजहृदय' भाग-१३ एवं १४ (गुजराती) का प्रकाशन हो गया है। जिन मुमुक्षु भाई-बहनों को मंगवाने हो वे ट्रस्ट के कार्यलय में संपर्क करे।

थोड़े ही समय में अनुभव प्रकाश पर के धारावाही प्रवचन - 'अनुभव प्रकाशना किरणों' भाग-२ (गुजराती) एवं अनुभव की किरणें भाग-१ (हिन्दी) का प्रकाशन किया जायेगा।

परमागमसार पर के धारावाही प्रवचन भाग-१ एवं २ कम्प्यूटर में फीड हो गये हैं। यह प्रवचन पूज्य भाईश्री की आगामी जन्मजयंती पर प्रकाशित करने की भावना है।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनामृत

मंत्र कणिका / सूत्र कणिका – अनुभव प्रकाश

(३४) ''(देवकी) स्वसंवेदनरूप वीतरागमुद्राको देखकर स्वसंवेदन भावरूप अपने स्वरूपका विचार करे (भाए)''

– यह जिनेन्द्रदेवके दर्शन करते वक्त अंतरंग स्वरूप अवलोकन करनेके सम्बन्धित विधान है। किस विधिसे जिनेन्द्र दर्शन करने योग्य है ? – उसका सुंदर आध्यात्मिक दिग्दर्शन यहाँ पर मिलता है।

वीतराग जिनदेवकी मुद्रामें अंतर्मुखी स्वसंवेदन भावके दर्शन करनेसे, निज स्वसंवेदनरूप अपने स्वरूपकी भावना उत्पन्न होती है। इसीलिये लोकमें जिनेन्द्रदेवकी अकृत्रिम शाश्वत एवं कृत्रिम (प्रतिमाकी) स्थापनाकी परंपरा अनादिसे है। उसमें उपर्युक्त पारमार्थिक रहस्य रहा है।

(३५) ''इस स्थापनाके निमित्तसे तीन काल, तीन लोकमें भव्यजीव धर्म साधते हैं, इससे स्थापना परम पूज्य है। 'द्रव्यजिन' द्रव्यजीव (है) वह भी भावपूज्य हैं । इससे भावीनयसे पूज्य हैं।''

(३६) ''अनंत गुणात्मक वस्तु तथापि ज्ञानमात्र ही है।''

आत्मा–वस्तुमें अनंत गुण होनेके बावजूद भी आत्मा 'ज्ञानमात्र' ही है। ऐसा कहनेमें गूढ़ रहस्य रहा है। समयसारजी आदि अनेक ग्रंथोंमें आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहा है।

''इत्यादि अनंतशक्ति सुनिर्भरोपि, 'ज्ञानमात्र' नयतां न जगति भावम्।'' (समयसार–कलश–२६४)

उक्तप्रकारसे कहा है क्योंकि :–

(**A**) ज्ञानलक्षणसे लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है, और स्वरूपनिश्चय होने पर आत्मसन्मुखता होती है। और ज्ञान द्वारा अस्तित्व ग्रहण होता है, परसे व रागसे भिन्नता होती है।

(**B**) ज्ञान द्वारा स्वसंवेदनरूप स्वानुभव ज्ञानमें ही होता है। एवं परिणतिमें भी ज्ञानवेदन प्रधान है और द्रव्यकी प्रतीतिका कारण बनता है।

(**C**) ज्ञानके सिवा दूसरे किसी भी गुणके परिणमनको लक्षणके स्थानमें रखकर स्वरूपकी पहचान नहीं हो सकती। क्योंकि अज्ञान अवस्थामें वस्तु–स्वभावका प्रसिद्ध, अविकृत, साकाररूप, वेदनरूप परिणमन दूसरे किसी भी गुणका नहीं होता है।

(**D**) पुन: सर्व गुणोंके परिणमनमें ज्ञानकी उर्ध्वता है। अत: ज्ञानकी प्रधानता अबाधित है।

(**E**) अंतर सावधानीरूप पुरुषार्थके परिणमनमें भी ''ज्ञानमात्र'' से निजका अवलंबन मोक्षमार्गमें रहे साधक जीव पलकमें लेते हैं – अत: साधन है।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अक्टूबर–२०१४) का शुल्क
स्व. शारदाबहन जयंतिलाल महेता के स्मर्णार्थ में ह. डो. महेशभाई महेता तथा डो. गीताबहन महेता, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

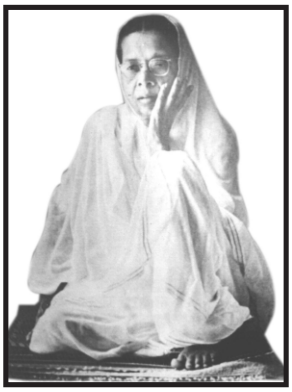

प्रश्न :– बहिर्लक्ष्यी ज्ञानमें सन्तुष्ट होकर मान लेता है कि तत्त्व मेरी समझमें आ गया, मैंने सब कुछ जान लिया, किन्तु वास्तवमें तो अभी प्रारम्भ भी नहीं होता। तो क्या करना ?

समाधान :– अंतरमें बहुत करनेका बाकी है। समझमें आ गया कब कहा जाय कि अंतरसे परिणमन हो तब; वह न हो तब तक समझ लिया ऐसा माने ओर भीतर वैसे विचार करता रहे तथापि उसकी समझमें नहीं आया है।

स्वयं दिखाई न दे ऐसा नहीं है; लक्षणके द्वारा देखा जा सकता है। अरूपी भी स्वयं ही है; कोई और नहीं कि उसे खोजने जाना पड़े। अरूपी स्वयं एक वस्तु है; अवस्तु नहीं है। अरूपी वस्तु भी लक्षणके द्वारा देखी जा सके ऐसी है; परन्तु यह देखता ही नहीं इसलिये भ्रान्तिमें पड़ा है। बाह्यमें सर्वत्र देखा करता है, परन्तु अपने लक्षणको पहिचानकर स्वयंको नहीं देखता कि मैं कौन हूँ ? बाह्यमें सब जगह रस आता है, अंतरमें उतना रस और महिमा नहीं आती इसलिये कहीं न कहीं अटक जाता है। पूज्य गुरुदेवने मार्ग बतलाया है कि तू–आत्माको पहिचान। वह ज्ञायक आत्मा ज्ञान लक्षणके द्वारा पहिचाननेमें आये ऐसा है, उसे तू पहिचान ले, उसीमें सर्वस्व भरा है, बाहर कुछ नहीं है। अनन्तकालसे मार्गको जाना नहीं और पुरुषार्थ भी नहीं किया। स्वयं करे, कारण दे तो कार्य हो; परन्तु स्वयं नहीं करता। उसका लक्ष्य तो कार्य करनेके ऊपर ही होना चाहिये। **(स्वानुभूतिदर्शन–४०३)**

❖

प्रश्न :– ज्ञायकको किस प्रकार ग्रहण करना ? उसकी चाबी (युक्ति) कृपया समझायें।

समाधान :– ज्ञायककी लगन लगे, ज्ञायककी जिज्ञासा लगे और पुरुषार्थ बारम्बार उस ओर जाय कि यह 'ज्ञायक' जो जाननेवाला है वही 'मैं हूँ'। अंतरमें ज्ञान–दर्शन–चारित्रादि गुणभेदके विचार भी आयें; परन्तु 'मैं तो एक अखंड ज्ञायक हूँ' ऐसे उसमें स्थिर होनेके लिये बारम्बार उसीका विचार करे, अभ्यास करे; वह अभ्यास करते–करते अंदर जो स्वभाव है ग्रहण होता है। 'यह ज्ञानस्वभाव ही मैं हूँ', जो ज्ञानस्वभाव दिखता है वह रागके साथ मिश्रित दिखाई देता है, परन्तु वह पृथक् है। ज्ञान जो दिखाई देता है वह द्रव्यमिश्रित है अर्थात् द्रव्यके आधारसे वह स्वभाव है। इसप्रकार वहाँ दृष्टि जाय तो वह ग्रहण होता है। **(स्वानुभूतिदर्शन–४०४)**

❖

प्रश्न :– 'मैं ज्ञायक हूँ'–ऐसी दृढ़ता नहीं रहती, तो उसके लिये क्या करना ?

समाधान :– ज्ञायक स्वयं पुरुषार्थसे टिकता है। जैसे छाछमें मक्खन मिला रहता है और मथते–मथते वह पृथक् हो जाता है; उसी प्रकार अनादिसे ऐसी भ्रान्ति हो रही है कि मानो मैं विभावोंके साथ एकमेक हो गया हूँ, किन्तु तत्त्व तो अनादिसे पृथक् ही है। जो पृथक् है, वह भ्रान्तिवश एकमेक भासित होता है। स्वयं बारम्बार स्वभावको ग्रहण करके 'मैं

भिन्न हूँ' ऐसी दृष्टि करे, प्रतीति करे तब उस ओरकी लीनताकी परिणति प्रगट हो, ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये। वह न हो तबतक–मक्खनकी भाँति पृथक् न हो तबतक–बारम्बार उसका अभ्यास–मंथन करते ही रहना।

(स्वानुभूतिदर्शन–४०५)

❖

प्रश्न :– पूज्य गुरुदेव कहते थे कि सम्यग्दर्शनसे धर्मका प्रारंभ होता है; तो जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो वही सच्चा जैन कहलाये ? वह न हो तबतक क्या करना ?

समाधान :– सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही सच्चा जैन कहलाता है सम्यग्दर्शन न हो तबतक भावना भाये, विचार करे कि मैं ज्ञायक हूँ, यह राग मेरा स्वरूप नहीं है, शरीर मैं नहीं हूँ, विभाव मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसे उससे भेदज्ञान करे ज्ञान–दर्शन–चारित्रके विकल्प बीचमें आते हैं परन्तु वह सब राग है; उस रागसे भी भिन्न मैं चैतन्य अखंड द्रव्य हूँ ऐसे अपने ज्ञायकके भिन्न अस्तित्वका विचार करे। इस ज्ञायक में अनन्त गुण हैं, उनकी पर्यायें परिणमती हैं। वैसे विचार करके ज्ञायकका निर्णय करे। जबतक सम्यग्दर्शन प्रगट न हो तबतक उसीका विचार, पठन, लगन एवं महिमा करता रहे, देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा करता रहे। **(स्वानुभूतिदर्शन–४०६)**

❖

प्रश्न :– अन्य कोई विकल्प न करके मैं चैतन्य हूँ यही विचार करता रहे तो ?

समाधान :– दूसरे कोई विकल्प न करना चाहे, फिर भी वे आये बीना रहते ही नहीं, मैं चैतन्य हूँ, वह भी शुभभावका एक विकल्प है। विकल्प न आयें ऐसा नहीं होता; विकल्प पहले से नहीं छूटते–प्रथम मैं विकल्पोंसे भिन्न हूँ ऐसी श्रद्धा–प्रतीति हो, अर्थात् पहले भेदज्ञान हो पश्चात् विकल्प छूटते हैं। प्रथम तो विभावोंकी कर्ताबुद्धि छोडनी है कि किसी भी विभावका कर्ता मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य ज्ञायक हूँ। **(स्वानुभूतिदर्शन–४०७)**

करुणासागर पूज्य भाईश्री शशीभाई के ८२वें जन्म–जयंती महोत्सव पर धार्मिक कार्यक्रम

मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार पूज्य भाईश्री का आगामी ८२वां जन्म जयंति महोत्सव मार्गशीर्ष सुदी–५, दि.२५–११–१४ से मार्गशीर्ष सुदी–८, दि.२९–११–१४ पर्यंत अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया जायेगा। इस प्रसंग पर मंडल विधान पूजन, पूज्य भाईश्री के ओडियो एवं वीडियो सी.डी. प्रवचन, पूज्य गुरुदेवश्री के वीडियो सी.डी. प्रवचन, पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की तत्त्वचर्चा, भक्ति, सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम रहेंगे और दि.२८–११–१४ के दिन जिनेन्द्र रथयात्रा का कार्यक्रम रहेगा।

दि.२९–११–१४ के दिन मार्बलके पटियेमें उत्कीर्ण 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथ से चयन किये गये वचनामृतो के पटिये की अनावरण विधि की जायेगी एवं 'समयसार', 'प्रवचनसार' इत्यादि जिनवाणीकी स्थापना भी कि जायेगी। इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षु ट्रस्ट के कार्यालय में यहाँ पर पहुँचने की तारीख लिखें, जिससे उनकी आवास एवं भोजनकी समुचित व्यवस्था हो सके।

कार्यक्रम स्थल :– श्री शशीप्रभु साधना–स्मृति मंदिर, प्लोट नं.१९४२–बी, शशीप्रभु चोक, रूपाणीसर्कल के पास, भावनगर–३६४००१

संपर्क :– श्री सत्सुख प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर ३६४००१

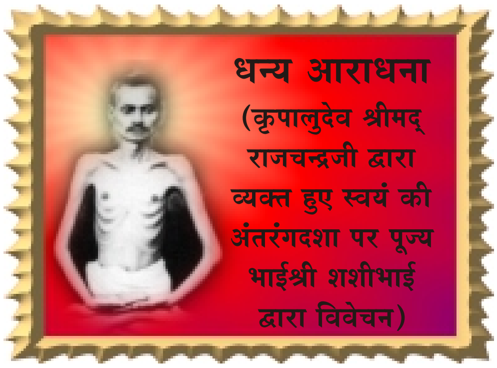

३६५

बंबई, वैशाख सुदी ११, १९४८

'जिसे आत्मत्वका ध्येय नहीं है, उसके लिये यह बात (मिस्मिरेजम, चमत्कार, इत्यादि) उपयोगी है; हमें तो उसके प्रति कुछ ध्यान देकर समझानेकी इच्छा नहीं होती अर्थात् चित्त ऐसे विषयकी इच्छा नहीं करता।

यहाँ समाधि है। बाह्य प्रतिबद्धता रहती है।'

कृपालुदेवको बाह्य चमत्कारों सम्बन्धित विद्याका अमुक अंशमें ज्ञान था। परन्तु यह विषय ज्ञानदृष्टिसे अनर्थकारक है; इतना ही नहीं उसमें मोहबुद्धिसे आकर्षित होना वह तो दुर्गतिका कारण है। जिन्हें आत्महितका ध्येय नहीं है ऐसे अज्ञानी जीवोंको ही यह बात महत्तापूर्ण व उपयोगी लगती है। कृपालुदेव तो ऐसे विषयको कुछ अंशमें जानते हुए भी उसके प्रति थोड़ा भी लक्ष्य देकर समझाना नहीं चाहते, अर्थात् उनके चित्तमें ऐसे विषयका ज़रा भी अवकाश नहीं है। अंतरपरिणतिमें समाधि वर्तती है, जब कि बाह्य उपयोगमें मोक्षमार्गको अनुकूल नहीं ऐसी प्रतिबद्धता वर्तती है।

३६२

बंबई, वैशाख सुदी १२, रवि, १९४८

'मनमें वारंवार विचार करनेसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिर कर अन्यभावमें ममत्व नहीं होता और अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है, ऐसी दशामेहं विकट उपाधियोगका उदय आश्चर्यकारक है। अभी तो थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति मुश्किलसे रहती है और प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतावाला तो चित्त नहीं है और अबी वैसी प्रवृत्ति करना कर्तव्य है, तो उदासीनतासे ऐसा करते हैं; मन कहीं भी नही लगता, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, तथापि अभी हरीच्छाके अधीन हैं।... 'वनकी मारी कोयल' की कहावके अनुसार इस कालमें और इस प्रवृत्तिमें हम हैं।'

आभ्यंतर-दशाका हूबहू बयान करते हुए कृपालुदेव लिखते हैं कि हमें अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है। जिनकी ऐसी दशा हो उन्हें बाहरमें सहजरूपसे निवृत्तियोग ही होता है, बज़ाय इसके कृपालुदेवको विकट उपाधियोगका उदय है; यह आश्चर्यकारक है, अर्थात् स्वभाविकरूपसे देखें तो यह सुसंगत नहीं है। इन दिनों तो प्रवृत्ति और कार्योंका दबाव इतना वृद्धिगत हो गया है कि थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति मुश्किलसे मिलती है। प्रवृत्ति कर सके ऐसी चित्तकी योग्यता नहीं है फिर भी जैसे कमज़ोर प्राणीको चाबुक मारकर ज़बरदस्ती काम करवाया जाता है, वैसे वे (व्यवहारसे कर्तव्य जानकर) प्रवृत्ति करते हैं - ऐसेमें अपेक्षावृत्ति तो कहाँसे होगी ? अत्यंत उदासभावसे प्रवृत्ति की जाती हैं। परन्तु मन किसी भी प्रवृत्तिमें लगता नहीं और कुछ सुहाता भी नहीं है, फिर भी ज्ञानदृष्टिसे समाधान रखते हैं।

अपने परिणामकी दशाका अधिक स्पष्ट खयाल देते हुए लिखते हैं कि जैसे कोयल एक वनपक्षी है, वनमें ही रहनेका आदी है; वनका पक्षी शहरमें नहीं रह सकता, फिर भी उसे वनमेंसे मार-भगाकर निकाला जाय तो वह शहरमें आता है, ऐसी उनकी स्थिति इस प्रवृत्तिकालमें है। ऐसी स्थितिमें भी आपको तीर्थंकरादि महापुरुषोंके अनुपम आत्मध्यानका स्मरण होता है। तीर्थंकरादिक विचरते थे वह तो धरमकाल था, इसकी अपेक्षासे वर्तमान काल अत्यंत दुषमकाल है, उसमें भी आश्चर्यकारक ऐसा एकावतारीपना जिन्होंने साधा और आराधन किया उन्हें परम भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो!!